सब कुछ कृष्णार्पणम्

शरणागति की सहज वाणी

पं विष्णुकान्त शास्त्री

कविवर गुलाब के नवीनतम काव्य-संकलन 'सब कुछ कृष्णार्पणम्' की कविताओं में मर्मस्पर्शी सचाई है। अपने वागर्थ को ही नहीं, अपनी सम्पूर्ण सत्ता को प्रभु को समर्पित करने की साधना का जो संस्कार भक्त कवियों से कवि श्री गुलाब को दाय के रूप में मिला था, वही पल्लवित, पुष्पित हो इन कविताओं में सहज रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यह समर्पण अनायास ही नहीं हुआ है, यह जीवन के तीखे अनुभवों से उपजा है। तभी तो इन कविताओं में हृदयवेधी वेदना और उससे मुक्ति का आनंद दोनों निहित हैं।

गुलाबजी ने कभी गाया था, 'ईश्वर है सौन्दर्य, प्रेम ही एक धर्म है मेरा'। चढ़ती जवानी का वह उच्छ्वास अनुभवों की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। उन्हें लगा कि जगत् का सौन्दर्य अस्थिर है, नश्वर है। वे पीड़ाभरे स्वर में स्नेही-सहयोगी से पूछ उठे,

वे दृगों के चपल तीक्ष्ण शर क्या हुए !
वे तरल हास-मुखरित अधर क्या हुए !
वे दहकते हुए हिम-शिखर क्या हुए !
हम कहाँ आ गये देखते-देखते !
फूल मुरझा गये देखते-देखते !

क्या केवल समवयस्क दूसरों में ही ऐसा परिवर्तन हुआ है? नहीं, उन्हें अपने जीवन-फूल की रंगत भी उड़ती हुई नज़र आने लगी है। उनकी करुण स्वीकृति है ---

उड़ गया है रंग गालों का,
त्वचा ढीली पड़ी है
अब कहाँ लावण्य वह !
स्मिति की चमक पीली पड़ी है

तितलियों का झुंड भी
मुँह फेरकर जाने लगा है
फूल मुरझाने लगा है

जिस तरह अपना और दूसरों का अर्थात् इस जगत का सौंदर्य उन्हें नश्वर दिखाई देने लगा है, उसी तरह इस संसार का प्रेम भी उन्हें अधूरा, सच कहा जाये तो झूठा लगने लगा है । उनका अनुभूत सत्य है ---

हमारा प्यार अधूरा है
कितना भी बाँहों में बाँधा
मिलन किन्तु रहता है आधा
जाने यह कैसी है बाधा
लगता है जैसे छवि का श्रृंगार अधूरा है !
हमारा प्यार अधूरा है

एक समय था, जब कवि को हर तरुणी तिलोत्तमा लगती थी। अब उसका बोध है, 'कुछ भी हाथ नहीं आता है, रूप बदलता ही जाता है, चिर अतृप्त मन अकुलाता है' । अब उसे यह प्रतीति हो गयी है, 'हम सब खेल खेलकर हारे । तन के खेल, खेल कुछ मन के, झूठे थे वे सारे ।' केवल वैयक्तिक सौन्दर्य की नश्वरता और प्रेम की अपूर्णता ही नहीं, अपने अब तक के जिये हुए जीवन की निस्सारता भी कवि को इस बुरी तरह कचोटने लगी है कि हताशा के भावावेग में वह कह उठता है ---

निरुद्देश्य, निःसंबल, निष्क्रमित, निरस्त
अंकित कुछ शब्दों में जीवनी समस्त !

अपने कम्पित चरण एवं त्रस्त मन को लेकर वह किस ओर बढ़े, यह समझ नहीं पाता क्योंकि उसका लक्ष्य तो चिर-अलक्ष्य रहा है । क्या वह मुक्ति है? वह निश्चयपूर्व नहीं कह सकता किन्तु उसका पीड़ाभरा प्रश्न और त्रासभरा अनुभव है ---

कहाँ मुक्ति का द्वार?

बढ़ता हूँ जिस ओर उधर ही तम है अगम, अपार

और क्या यह केवल निष्क्रिय तम है? नहीं, उसे लगता रहता है कि वह तम दुर्निवार शक्ति से उसे खींच रहा है और वह लाचार है, उसकी ओर घिसटते जाने के लिए ---

डूब रही है किरण सुनहरी
बढ़ी आ रही तम की लहरी
आगे एक गुफा है गहरी
जाना जहाँ अकेला !

कवि को लगता है कि इस गहरी गुफा में या अँधेरे बंद कमरे में कोई अत्यंत क्रूर, निष्ठुर घातक उसकी घात में बैठा हुआ है। मरण के संत्रासकारी पूर्वाभास को संप्रेषित करने के लिए कवि ने एक के बाद एक भयंकर बिम्बों की झड़ी लगा दी है ---

नाग - सा फुफकार करता
शेर - सा झुक वार करता
क्रुद्ध, भूखा, बाज ज्यों
प्रतिनिमिष अंबर से उतरता
फाड़ता मुँह को मगर-सा
दुम उठा ऐंठा हुआ है
इस अँधेरे बंद घर में
कौन मेरी घात में बैठा हुआ है!

इसे नियति का अद्भुत विधान ही कहना चाहिए कि इस कविता के लिखने के दूसरे दिन ही कवि पर हृद्रोग का दारुण आक्रमण हुआ। स्वदेश से हज़ारों मील दूर अमेरिका के एक अस्पताल में पड़े कवि को साँस की एक पतली डोरी के सहारे जीवन-मरण का झूला झूलते-झूलते बिजली की कौंध के सदृश लगा कि उसके अन्तर्यामी जीवन-स्वामी ने पलट कर उसकी बाँह थाम ली है। वह स्वस्थ हो गया। आश्वस्त कवि की कृतज्ञ वाणी फूटी ---

किसने जीवन-दीप जुगाया !

मेरे मस्तक पर थी किसके स्नेहांचल की छाया !
जब भी महाकाल ने अपने जबड़ों को फैलाया
किसका था वह हाथ सदा जो आड़े-आड़े आया !

इन कविताओं के नीचे प्रदत्त रचनाकाल देखने से ज्ञात होता है कि इस अनुभूति के पहले ही कवि अपने सहज पारंपरिक संस्कारों के कारण प्रभु की शरण ग्रहण कर चुका था । यह भी सच है कि उसकी शरणागति में आधुनिक व्यक्ति का संशय रह-रह कर दरारें पैदा करता रहा है । जब कवि कहता है, 'अमृत सरोवर से फिर आये, मृगजल में सुख माने । मेरा मन विश्राम न माने' तब तो वह तुलसी की ही तरह 'कबहुँक मन विश्राम न मान्यों', जैसी भावना प्रकट करता है । किन्तु जब उसकी छटपटाहट इन शब्दों में व्यक्त होती है ---

अनजाना देश और अनचीन्हे लोग
मन में सौ चिंताएँ, तन में सौ रोग
जाने किस तंतु के सहारे टिके प्राण
करुणा है किसी की यह अथवा संयोग !

तब अवश्य ही संशय उसके मन को डगमगाता-सा लगता है । फिर भी गीतों में कवि का मूल स्वर शरणागति का है, यह प्रत्यक्ष है।

सब ओर से निराश होकर अपने परम रक्षक की शरण ग्रहण करनेवाले कवि की निश्छल विनती है ---

आया चरण - शरण में बेसुध, थककर चारों ओर से
दिन-दिन दुर्बल मन यह बाँधो, प्रभु! करुणा की डोर से

शरणागत की दोनों विशेषताएँ अकिंचनता और अनन्यता इन पंक्तियों में सहज ही मुखरित हुई हैं । इसी के साथ जोड़ लें उनकी एक और प्रार्थना ----

मन का विष हरण करो हे !
वरण करो, वरण करो, वरण करो हे !

जाने-अनजाने इसमें एक दिव्य औपनिषदिक सचाई झलक उठी है । भक्त अपनी ओर से प्रभु की शरण ग्रहण करता हुआ कहता

है, "मुमुक्षर्वै शरणमहम् प्रपद्ये' मोक्षार्थी मैं आपकी शरण में आया हूँ। किन्तु उसकी शरणागति सफल तभी होती है, जब प्रभु उसका वरण कर लें क्योंकि प्रभु तो उसे ही प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं वरें, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' । इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन कविताओं की सर्जना के समय कवि शास्त्रोक्ति को दुहरा रहा था । नहीं, मेरा कहना यही है कि उसकी आत्मानुभूति अपनी निश्छलता के कारण उस परम सत्य की वाहिका बन गयी थी ।

शरणागति का चरमोत्कर्ष होता है आत्मनिक्षेप या सर्वस्य समर्पण में । अपने और तथाकथित अपनों के बल का अहंकार टूट जाने पर अपनी बुद्धि-युक्ति के कुंठित हो जाने पर जब व्यक्ति एकमात्र प्रभु का ही आश्रय लेता है तब उसे लगता है कि अब उसका अस्तित्व भी पृथक् रूप से उसके अपने लिए नहीं, प्रभु में और प्रभु के लिए ही है । फिर वह किसी भी भाव, वस्तु या व्यक्ति का उपयोग अपने लिए कैसे कर सकता है ! वे सब के सब (चाहे वे भले हों या बुरे) निरपवाद रूप से उसके द्वारा सहज ही प्रभु को अर्पित कर दिए जाते हैं । इसी मनःस्थिति में कवि कह उठता है ---

ज्ञान-ध्यान, शक्ति-श्रम
राग - द्वेष, मोह - भ्रम
दाह, दीनता, अहम्
सब कुछ कृष्णार्पणम्

सर्वस्य समर्पण की फलश्रुति यही है कि समर्पक फिर अपनी ओर से कुछ नहीं करता, वह प्रभु के हाथ का उपकरण बन जाता है, प्रभु उससे जो चाहते हैं, करवा लेते हैं । इस स्थति को संकेतित करते हुए बड़ी काव्यात्मक भाषा में कवि ने कहा है ---

पाँव क्यों न जायँ थम
मार्ग चल रहा स्वयम्
मुक्त आज मुक्त हम
सब कुछ कृष्णार्पणम्

पाँवों के थमने का अभिप्राय है, कर्तृत्व का त्याग । मार्ग चल रहा है, वही मुझे चलाये जा रहा है का अर्थ है कि प्रभु की इच्छा ही मेरे माध्यम से चरितार्थ हो रही है । कर्त्ता प्रभु है तो भोक्ता भी वे ही होंगे । कर्तृत्व-भोक्तृत्व ही तो संसार के बंधन हैं । उनसे छूटा हुआ व्यक्ति निश्चय ही मुक्त है । सर्वस्व-समर्पण के द्वारा, शरण-ग्रहण के द्वारा मुक्ति की यह साधना कवि को ज्ञान आदि की भूल-भुलैया से बहुत सहज लगती है । इसी सहज साधना के प्रति उसकी आस्था है ।

सहज रहे जीवन और सहज हो मरण
सहज-सहज चिंतन हो सहज आचरण
सहज-सहज कर लें हम वरण वे चरण
शरण-क्लेशहारी
सहज हो प्रभु साधना हमारी

यह ठीक है कि एक दो कविताओं में ज्ञानजन्य अद्वैत का भी आभास मिलता है किन्तु यह बौद्धिक प्रतिपादन कवि का अनुभूत सत्य नहीं लगता । उदाहरणार्थ एक स्थान पर कवि ने कहा है ---

लहरें बस भिन्न देखता मैं
धारा अविच्छिन्न देखता मैं
मेरे लिए सृष्टि क्या ! प्रलय क्या !

अर्थात् यह सारी सृष्टि ब्रह्म में उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार अविच्छिन्न जलधारा में उठती गिरती लहरें । चूँकि उन लहरों में सलिल का न निर्माण होता है, न क्षय । अतः अधिष्ठान में नाम, रूप की प्रसारणा को ही सृष्टि और उनके विलोप को ही प्रलय कहा जाता है, तत्त्वतः अधिष्ठान से भिन्न उनकी सत्ता नहीं है । मेरी मान्यता है कि यह विवेचन बौद्धिक स्तर पर ही है । यदि यह बोध अनुभूति के स्तर पर उतर आता तो कवि के मन से दीनता छूट जाती जो अनेकानेक गीतों में मुखरित हुई है । सच तो यह है कि कवि की प्रमुख प्रार्थना ही यह है कि उसका मन भय, त्रास, पीड़ा, निराशा से मुक्त हो जाय । शरीर भले जराग्रस्त हो जाए किन्तु उसका मन जरा-

मरण के भय से मुक्ति होकर प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण रहे, यही कवि की कामना है। हृदय के अंतरतम से उठने के कारण इस भाव में सचाई है। एक उदाहरण लीजिये ---

बाहर से जैसा भी कर दो
किन्तु प्रेम से अंतर भर दो
अपनी वह अनुभूति अमर दो
जिससे जरा-मरण-भय छूटे भीत दृगों की कोर से

यह और भी प्रशंसनीय है कि केवल अपने लिए ही नहीं, जगत् के समस्त प्राणियों के लिए कवि ने प्रार्थना करते हुए प्रभु से याचना की है कि सब के जीवन में मंगलमय, शोभामय, पावन अरुणोदय हो।

बरसे घर-घर प्रेम सुधा-रस
निर्मल-उज्ज्वल हो जन-मानस
कोई कहीं न कातर, परवश
साधनहीन, सभय हो

इससे स्पष्ट है कि कवि की वास्तविक भूमिका भक्तिमयी शरणागति के लिए द्वैत को स्वीकार कर चलने की है। यह बात और है कि सब कुछ समर्पित कर देने के बाद बुद्धि के किये हुए भेद भी ढह जायँ 'भेद बुद्धि के अलम् !' किन्तु उस स्थिति में संभवतः कुछ कहना नहीं रह जायेगा।

इसका निर्णय करना मेरे लिए संभव नहीं है कि इन कविताओं का कथ्य कवि के जीवन में वस्तुतः किस सीमा तक उतर पाया है। हो सकता है कि इन गीतों में प्रतिफलित कवि की साध जितनी है, साधना उतनी न हो। कहनेवाले यह भी कह सकते हैं कि इनमें स्थान-स्थान पर कबीर, सूर, तुलसी, रवींद्र, निराला की उक्तियों की अनुगूँज सुनायी पड़ती है। किसी भी सचेत अध्ययनशील कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह अपनी परम्परा के चिंतन-पक्ष से जुड़े और इस क्रम में मन में बसी पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों का समान मनःस्थितियों में अपनी तरह से उपयोग करे। केवल इतने से उसकी

मौलिकता पर आँच नहीं आती। असली कसौटी यह है कि क्या उसकी सर्जना जीवंत अर्थात् प्रभविष्णु बन सकी है ? इन कविताओं का कोई भी सहृदय पाठक यह अनुभव करेगा कि इनमें व्यक्त भाव दिल की गहराई से आये हैं । इसलिए अपनी सादगी में भी ये कविताएँ मर्मस्पर्शी हैं। इनके शिल्प में अकृत्रिम सौन्दर्य है और इनकी भाषा में अद्भुत चुस्ती के साथ बोलचाल का माधुर्य और प्रवाह है । विनयपत्रिका के तुलसी की तरह इनका कवि भी अपने प्रभु से साक्षात् वार्तालाप करता-सा प्रतीत होता है।

वर्तमान हिन्दी काव्य-क्षेत्र के किस खेमे में ये कविताएँ स्थान पायेंगी, इसकी चिंता कवि ने नहीं की है। भारतीय जीवन में व्याप्त आस्था के उज्ज्वल पक्ष से जुड़नेवाली ये कविताएँ लोकचित्त में अपना सम्मानपूर्ण स्थान बना लेंगी। पूरे विश्वास के साथ मैं कवि की इन पंक्तियों को दुहराता हूँ ---

हों गुलाब में रंग न अब वे, गये जहाँ से आये
पर उसकी खुशबू न मिटेगी, कोई लाख मिटाये

अक्षय तृतीया २०४३ ---विष्णुकान्त शास्त्री
कलकत्ता